International Journal of Research in Hindi
www.hindijournal.in
ISSN: 2582-3493; Impact Factor: RJIF 5.46
Received: 21-09-2020; Accepted: 06-10-2020; Published: 22-10-2020
Volume 2; Issue 4; 2020; Page No. 22-23

संस्कारः धर्म, धार्मिक आस्था एवं धर्मशास्त्र की उपादेयता

पूनम गुप्ता
भारतीय भाषा केन्द्र, जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, भारत

प्रस्तावना

यू0आर0 अनन्तमूर्ति का 'संस्कार' उपन्यास 1965 में प्रकाशित हुआ। इस कन्नड़ उपन्यास के माध्यम से तथाकथित सभ्य ब्राह्मण समाज के वास्तविक यथार्थ का नग्न चित्र प्रस्तुत किया गया है। एक ऐसा उपन्यास जो धर्म, धार्मिक आस्था एवं धर्मशास्त्र पर सीधे चोट करता है तथा इस पर सोचने को मजबूर करता है कि उसकी क्या उपादेयता है ? जिससे हमारी समस्या का तो समाधान नहीं मिलता, लेकिन हमें जोंक की तरह पकड़े हुए है। हम चाहते हुए भी उससे छुटकारा नहीं पा सकते।

यह उपन्यास अग्रहारों के जीवन पर आधारित है जो स्वभाव से ही लालची, स्वार्थी एवं संकुचित मानसिकता के हैं। उनका ब्राह्मणत्व सिर्फ इसी बात पर टिका है कि वे सदियों से पुरानी परम्पराओं एवं नियमों का पालन करते हैं। वह यह भी नहीं जानते कि इस धर्म एवं नियमों का पालन क्यों कर रहे हैं। उन्हें बस इतना पता है कि यदि वे ऐसा नहीं करेंगे तो अनर्थ हो जाएगा। इसी में बंधकर वे स्वयं को सुरक्षित महसूस करते हैं।

इस उपन्यास में मुख्य दो चरित्र है। एक ब्राह्मणवादी रूढ़ियों का आजन्म विद्रोही नारणप्पा, जिसकी मृत्यु से उपन्यास का आरम्भ होता है तो दूसरे प्राणेशाचार्य, जो काशी से अध्ययन करके आया है। जिसकी दिनचर्या में कभी कोई चूक नहीं होती। प्राणेशाचार्य समाज में अपने को ऊंचा स्थापित करना चाहता है। प्राणेशाचार्य के मन में श्रेष्ठताबोध की मनोग्रन्धि बचपन में ही पैदा हो गई थी। वह स्वयं को अपने सहपाठी महाबली से सदैव श्रेष्ठ सिद्ध करने की कोशिश में लगा रहा, पर वह स्वयं को कभी श्रेष्ठ सिद्ध नहीं कर पाया। यही मनोग्रान्थि उसकी नारणप्पा के प्रति भी देखने को मिलती है। अपने श्रेष्ठताबोध को बरकरार रखने के लिए वह अपनी सारी इच्छाओं का दमन कर देता है। इसी कारण से वह रोगिणी से विवाह भी करता है। दरअसल उसे स्वयं पर ही संदेह था।

नारणप्पा एवं प्राणेशाचार्य दोनों का चरित्र दो ध्रुवों पर है। जहां नारणप्पा सहज स्वाभाविक जीवन जीता है, वहीं प्राणेशाचार्य धर्म, धार्मिक आस्था एवं धर्मशास्त्र में जकड़ा हुआ जीवन जीता है। नारणप्पा इन सारी प्रचलित मान्यताओं और सिद्धांतों की चुनौती देते हुए जीवन जीता है। नारणप्पा के स्वतंत्र जीवन दर्शन में धर्म, धार्मिक आस्था एवं धर्मशास्त्र की कोई भूमिका नज़र नहीं आती है। नारणप्पा के अन्तिम संस्कार की बात जब उठती है तो अग्रहारा के सारे ब्राह्मण प्राणेशाचार्य से यह जानने को उत्सुक होते हैं कि नारणप्पा का संस्कार होना चाहिए या नहीं। क्या किसी दूसरे को उसका संस्कार करना चाहिए, यह अलग प्रश्न है। नारणप्पा जीते–जी तो लोगों की समस्या बना रहा, मरने पर भी उनके लिए एक नई समस्या बन गया। लक्ष्मणाचार्य उसके व्यक्तित्व को याद करते हुए कहता है– ''और उसने क्या नहीं किया? सबके सामने नदी पर आकर परम्परा से पूजे जाने वाले शालिग्राम को पानी में फेंककर थूक दिया''।[1]

इतना करने पर भी ईश्वर या धर्म नारणप्पा का कुछ बना–बिगाड़ नहीं पाया। पूरा जीवन वह ब्राह्मण धर्म का विरोध करता रहा। अतः देवस्थल की मछली मारने की जो प्रचलित मान्यताएं थी, नारणप्पा उसको भी धाराशायी कर दिया। नारणप्पा के जीवन में तो धर्म, धार्मिक आस्था एवं धर्मशास्त्र का कोई प्रभाव ही नहीं पड़ा। प्राणेशाचार्य ने नारणप्पा को सुधारने के लिए क्या–क्या नहीं किया। जिस धर्म, धार्मिक आस्था एवं धर्मशास्त्र के बल पर प्राणेशाचार्य दम भरता था कि अपनी पुण्य शक्ति से, उपवास से, तप शक्ति से उसमें सन्मति जाग्रत करूंगा, लेकिन क्या वह नारणप्पा को सुधार पाया?

प्राणेशाचार्य नारणप्पा के अंतिम संस्कार का उपाय ढूढने के लिए अनेक धर्मग्रन्थ उलट लिया। उसे इस बात की जिद थी कि – ''देखें अग्रहार में अन्तिम विजय उनके सनातन धर्म और उनकी तपस्या की होती है या नारणप्पा के राक्षसी स्वभाव की।''[2]

अन्ततः धर्मशास्त्र तो दूर हनुमान की मूर्ति से भी प्राणेशाचार्य को कोई अनुमति नहीं मिली। काफी अनुनय–विनय के बाद भी हनुमान जी पसीजे नहीं थे। अन्त में हारकर प्राणेशाचार्य कहता है कि सनातन शास्त्रों में यदि इस प्रश्न का उत्तर न हो तो यह समझना चाहिए कि नारणप्पा की ही जीत हुई। इस बात से स्पष्ट होता है नारणप्पा के आगे धर्मशास्त्र भी कमजोर पड़ गया। जो आजीवन नारणप्पा को सुधारने की जिद ठाने था, वही प्राणेशाचार्य मन्दिर से हनुमान जी से अनुनय–विनय के बाद निराश होकर लौटते वक्त चन्द्री के साथ सहवास करता है। तब यह सवाल उठता है कि नारणप्पा और प्राणेशाचार्य के जीवन दर्शन में क्या फर्क ? जिस व्यक्ति ने आजीवन धार्मिक आस्था के साथ जीवन जिया, धर्म एवं धर्मशास्त्र को माना। उसमें एकाएक परिर्वन कैसे आ गया। यदि ऐसा हुआ भी तो धर्म या ईश्वर ने उसक ब्राह्मणत्व की रक्षा क्यों नहीं की। इन्हीं सब कारणों से धर्म, धार्मिक आस्था एवं धर्मशास्त्र की उपादेयता निरर्थक जान पड़ती है।

नारणप्पा का अन्तिम संस्कार ब्राह्मणों द्वारा होना था। क्योंकि उसने तो ब्राह्मणत्व को त्याग दिया था, लेकिन ब्राह्मणत्व ने उसे नहीं छोड़ा था। प्राणेशाचार्य स्वयं कहता है कि– ''शास्त्रों के अनुसार चूंकि वह बिना बहिष्कृत हुए मरा है इसलिए वह ब्राह्मण रहकर ही मरा है। देखा जाए तो जो ब्राह्मण नहीं है, उन्हीं को उनके शव को स्पर्श करने का अधिकार नहीं है। हम अपने ब्राह्मणत्व की ही प्रवंचना करेंगे।''[3]

लेकिन क्या ऐसा होता है? अन्ततः नारणप्पा का संस्कार ब्राह्मणों द्वारा न होकर एक मुसलमान द्वारा किया जाता है। तब तो ब्राह्मणत्व की प्रवंचना ही हुई। तब तो ब्राह्मण अपने बनाए हुए प्रचलित मान्यताओं को ही सुरक्षित नहीं रख पाए।

इस उपन्यास में एक चीज और देखने को मिलता है। इस उपन्यास में जो पात्र जैसा दिखता है, वैसा है नहीं और जो दिखता है, उसकी लाश पड़ी है। कहीं न कहीं यह तथाकथित सभ्य समाज अपने ही द्वारा बनाए गए नियमों का उल्लंघन करते हैं। चन्द्री जब नारणप्पा के अन्तिम संस्कार के लिए सबके सामने उपस्थित रहती है तो पहली बार दुर्गाभट्ट उसे देखता है तो अपने कमरे में लगे रवि वर्मा द्वारा बनाए गए चित्र को याद करता है। वह सोचता है– ''झीने आंचल में से उभरे कुच युग,

संकोच और लज्जा से छुई–मुई बनी उस मत्स्यगंधा की–सी नाक, आंखे, ओठ! इसी के लिए तो नारणप्पा ने शालिग्राम को नदी में फेंक दिया था। मांस–मद्याहार भी किया तो इसमें आश्चर्य की काई बात नहीं। उसमें साहस था।''[4]

दुर्गाभट्ट के इस सोच से स्पष्ट है कि यदि समाज या धर्म आड़े न आता हो तो वह भी ऐसा करने से न चूकता। असल बात तो यह है कि उसकी चाह भी नारणप्पा जैसी ही थी, पर उसमें समाज से विद्रोह करने का साहस नहीं था। अतः धर्म या प्रचलित सिद्धांत हमारे सहज–स्वाभाविक विकास में बांधक ही बनता है। न चाहते हुए भी लोक–लाज एवं परम्परा के भय से उसका निर्वाह करना पड़ता है।

दुर्वासापुर के अग्रहारा ब्राह्मणों की यह प्रचलित मान्यता थी कि वे अपने से निम्न समझे जाने वाले स्मार्त के यहां भोजन तो दूर पानी भी नही पी सकते। ऐसे में जब तक नारणप्पा का अन्तिम संस्कार नहीं हो जाता, तब तक वे अपने घर में भी भोजन नहीं कर सकते। लेकिन भूख से पीड़ित दासाचार्य स्मार्त के यहां चोरी–छिपे भोजन कर अपने ही परम्परा की धज्जियां उड़ाता है। यही लेखक भी बताना चाहता है कि जबर्दस्ती धर्म का चोला ओढ़कर जीवन का निर्वाह नहीं किया जा सकता। जिसका अपने ही जीवन में कोई मतलब न हो।

इस तरह 'संस्कार' उपन्यास के माध्यम से जगह–जगह धर्म, धार्मिक आस्था एवं धर्मशास्त्र पर पैनी चोट की गई है। भागीरथी के मरने पर दाह–संस्कार के बाद प्राणेशाचार्य जब सूतक अवस्था में रहता है तो बिना खाए पिए कई दिन बीत जाते हैं। मेले में जब उसे भूख लगती है तो रास्ते का साथी पुट्ट, जो उसके स्वभाव से परिचित है। प्राणेशाचार्य के मन के द्वन्द्व को जानकर उसको मन्दिर के सहभोज में खाने के लिए कहता है। प्राणेशाचार्य अपनी मनःस्थिति को जानते हुए सोचता है कि यदि मन्दिर में ब्राह्मणों की पंक्ति में बैठकर भोजन करूंगा तो मेरा यह अपराध मन्दिर से लगे सरोवरों की मछलियों को मारने के नारणप्पा के पाप से कम जघन्य नहीं होगा। इतना सोचने के बावजूद भी वह भोजन करता है। इसके बाद भी कोई अनर्थ नहीं होता।

एक तरह से देखा जाए तो प्राणेशाचार्य के जीवन मूल्यों की हार और नारणप्पा के जीवन दर्शन की जीत होती है। नारणप्पा के मृत्यु के बाद भी उसके जीवन मूल्य समाप्त नहीं हो जाते, बल्कि प्राणेशाचार्य ही उसे आत्मसात कर लेता है। इस प्रकार नारणप्पा के मरने पर भी उसके जीवन मूल्य को स्वयं प्राणेशाचार्य ही जीवित रखता है। कहने को तो प्राणेशाचार्य है, पर अब वह वैसा ही नहीं रहा। सनातन धार्मिक पद्धति पर चले आ रहे उसके जीवन मूल्यों का क्षय हो गया।

उपन्यास के अन्त में जब प्राणेशाचार्य द्वन्द्व की स्थिति में रहता है, तब उसे धर्म के बजाए मनुष्य द्वारा खुद लिए गए निर्णय एवं उसके लिए अग्रसर होकर कर्म करने की बात समझ में आता है। प्राणेशाचार्य कहता है– ''नारणप्पा के शव संस्कार का प्रश्न उठा तो उसका स्वयं समाधान करने की कोशिश मैंने नहीं की। मैं परमात्मा पर भरोसा करता रहा, धर्मशास्त्रों के पन्ने उलटता रहा।''[5] यह बात प्राणेशाचार्य को बहुत बाद में समझ आती है कि स्वयं कुछ किए बिना कुछ नहीं होने वाला। हर काम इंसान को ही करना पड़ता है।धर्म या धर्मशास्त्र कुछ नहीं करता। इस उपन्यास में अनन्तमूर्ति एक अन्य प्रसंग के माध्यम भी धर्म, धार्मिक आस्था एवं धर्मशास्त्र की उपादेयता को निरर्थक साबित करता है। पूरे गांव में महामारी फैली है। इसी कारण से नारणप्पा की मृत्यु भी हुई। गांव के दो–चार लोग और मरे। इस प्लेग का समाधान भी धर्मशास्त्र या किसी देवी–देवता के द्वारा नहीं किया जाता है। नारणप्पा की मित्र–मंडली ही नगरपालिका को बुलवाकर टीके लगवाती है एवं दवा का छिड़काव करवाती है। इस प्रकार वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर ही प्लेग के प्रकोप को नियंत्रित किया जाता है। अतः इससे स्पष्ट होता है कि वैज्ञानिक युग में अंधविश्वासों के माध्यम से किसी समस्या का समाधान नहीं किया जा सकता, जिसका आज के जीवन में कोई महत्व नहीं है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि धर्म या धर्मशास्त्र के माध्यम से मनुष्य का सहज स्वाभाविक विकास नहीं हो सकता। उसके रहने या न रहने से कोई फर्क नहीं पड़ता है। इससे बेहतर है कि निरर्थक धर्म को लादे बगैर स्वतंत्र होकर सहज–स्वाभिक रूप से अपने जीवन का विकास किया जाए।

संदर्भ सूची

1. संस्कार, यू.आर.अनन्तमूर्ति, चन्द्रकान्त कुसनूर, (अनु.), राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013, पृ.सं. 17
2. वही, पृ.सं. 29
3. वही, पृ.सं. 19
4. वही, पृ.सं. 18
5. वही, पृ.सं. 126